ISSN-2230-7540

प्राचीन भारतीय दंड व्यवस्था

Dr. Shriphal Meena*

Lecturer,
Department of History,
Govt. College Karauli, Rajasthan

सार

प्राचीन भारतीय न्यायिक क्षेत्र में दण्ड व्यवस्था को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। तत्कालीन समाज में जीवन के क्रिया-कलापों में भी दण्ड का प्रमुख योगदान था, इसके पृष्ठभूमि में अनेक तत्व विद्यमान है। मूलतः दण्ड का सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन है, क्योंकि इसी के आधार पर समाज एवं सामाजिक क्रिया-कलापों का संचालन होता है। इसी दृष्टिकोण से यह कथनीय है कि दण्ड का न केवल मानव जीवन में बल्कि समाज एवं राष्ट्र के उन्नयन में महत्वपूर्ण भूमिका रही है। न्यायिक दृष्टिकोण से भारत के सांस्कृतिक इतिहास का अनुशीलन करने से यह तथ्य प्रतिबिम्बित होता है कि मनुष्य के जीवन में प्रारम्भ से ही एक आदर्श एवं मर्यादा की स्थापना की गयी जिसका उल्लंघन करने पर दण्ड ही एकमात्र समाधान दृष्टिगोचर होता है।

प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय समाज में दण्ड की व्यवस्था समयानुकूल परिवर्तित और विकसित होता रहा है। वस्तुतः मानव स्वभाव के अनुसार व्यक्ति जाने अनजाने में अनेक प्रकार के अपराधों को कर देता है, जिसके प्रतिफल के रूप में उसे दण्ड भुगतना पड़ता है। दण्ड की परम्परागत पद्धति प्राचीन काल से प्रचलित चली आ रही है जो कालान्तर में काल, समय एवं परिस्थिति के अनुसार परिवर्तनशील रही है। इस प्रकार के दण्ड व्यवस्था का समुचित अध्ययन करने के लिए उसके श्रोतों पर दृष्टि डालना अपेक्षित है। प्राचीन भारतीय समाज में प्रचलित दण्ड व्यवस्था का अध्ययन निम्न श्रोतों के आधार पर किया जा सकता है, इन्हें मुख्यतः तीन भागों में विभाजित किया गया है।

1. साहित्य
2. विदेशी विवरण
3. पुरातत्व

साहित्य को शोध अध्ययन की दृष्टि से अनेक कालों के अन्तर्गत विवेचित करना अप्रासंगिक न होगा। वैदिक साहित्य के अन्तर्गत सर्वप्रथम वेद

ISSN-2230-7540

आते है जिसके माध्यम से तत्कालीन आर्य सभ्यता समाज, धर्म एवं राजनीति उद्घाटित होती है। वेदों की संख्या चार है। ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद एवं अर्थर्ववेद।

इनके द्वारा वैदिक आर्यो के संस्कृति के विभिन्न पक्षों पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। भारतीय परम्परा वेदों को नित्य और अपौरूषेय मानती है। ऋग्वेद का अधिकांशतः भाग देव स्त्रोत्रों से भरा हुआ है। ऋग्वैदिक काल में पाप एवं अपराध की भावना भली-भांति उत्पन्न हो गयी थी। "ऋग्वेद में एक स्थान पर चोरी करने वाले अपराधी के हाथ और पैर कटवा देने का उल्लेख प्राप्त होता है।" अन्य तीनों वेद उत्तरवैदिक काल की कृतियाँ मानी जाती है। सामवेद में यह उल्लेख प्राप्त होता है कि दुष्ट एवं दुराचारी व्यक्तियों को ईश्वर द्वारा दण्ड प्राप्त होता है। यजुर्वेद में एक स्थान पर यह निर्दिष्ट किया गया है कि दुष्कर्म करने वाले अपराधी विनाश को प्राप्त करते है। अथर्ववेद में शुल्क लेकर पुरूष को मरवानेवाली गणिका को जीवित चिता में जला देने का प्रमाण मिलता है और गाँव वालों को सौ गौओ की हत्या करने के अपराध में ऋजाश्व को उसके पिता ने अन्धा कर दिया था।

वेदों के पश्चात् ब्राह्मण आरण्यक, उपनिषद एवं धर्मसूत्रों का स्थान आता है। ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों की व्याख्या करने के लिए गद्य में लिखे गये है एवं शतपथ सामवेद के लिए पंचविश, तथा अथर्ववेद के लिए गोपथ आदि। शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित है कि चोरों को प्राणदण्ड दिया जाता था परन्तु अपराध स्वीकार करने पर क्षमा भी किया जा सकता था। कौशितकि ब्राह्मण में पाप के स्थान पर स्खलन शब्द का प्रयोग किया गया है। छान्दोग्योपनिषद में सुरापायी को पतित कहा गया है। शूद्र के अतिरिक्त ब्रह्मचारियों के लिए सभी प्रकार की सुरा निषिद्ध था। इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद में यह स्पष्ट होता है कि उस युग में अपराधों के लिए भयानक से भयानक दण्ड व्यवस्था थी। श्रौतसूत्रों में अपराध करने पर प्रायश्चित का प्रयोग बहुलता के साथ किया गया है।"

"इसी ग्रन्थों से भी दण्डित व्यवस्था का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त होता है कि विष्णु धर्मसूत्र में ब्रह्म हत्यारे व्यक्ति को मृत्युदण्ड दिये जाने का विधान निर्दिष्ट है।" गौतम धर्मसूत्र में यह निर्दिष्ट है कि माता, बहन, पुत्रवधू के साथ व्यभिचार करने वाले व्यक्ति का अण्डकोष एवं लिंग काटने का प्रमाण मिलता है।

"बौधायन धर्मसूत्र के अनुसार जो व्यक्ति पाप या अपराध करते थे उन्हें दण्ड स्वरूप प्रायश्चित करने पड़ते थे। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में नरहत्या, स्तेय एवं भ्रूणहत्या करने वाले अपराधी की सारी सम्पत्ति जब्त कर लेने या मृत्युदण्ड देने का संकेत मिलता है।" वशिष्ठ धर्मसूत्र में व्यभिचार करने वाले अपराधी का लिंग काट लेने का विधान प्राप्त होता है।

महाकाव्य ग्रन्थों के अध्ययन से प्राचीन संस्कृति के विविध पक्षों का - समवेत ज्ञान प्राप्त होता है। रामायण में चार प्रकार के दण्ड का उल्लेख है, यथा- विभीषक को धिक दण्ड. मारिच को माल्यवान को वाक दण्ड चोरों को अर्थदण्ड तथा बालि को मृत्युदण्ड[12] देने का विधान मिलता है। महाभारत में दण्ड के आठ नाम ईश्वर, पुरूष, प्राण, सत्य, चित्त. प्रजापति, भूतात्मा तथा जीव आदि बताये गये है। यही अपराधियों को भेदता, छेदता, पीड़ित करता, काटता, चीरता, फाड़ता तथा मरवाता है। रामायण में एक स्थल पर राम ने बालि से कहा है कि जो राजा अपराधी को दण्ड नहीं देता वह स्वयं उसके पाप का फल भोगता है और विधि का उल्लंघन करने वाला दण्डित या मारा जा सकता है।

जैन साहित्य से अनेक अपराधिक घटनाओं के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। ओववाइय सुन्ताग में उल्लेख है कि चोर संघ में चोरी करते हुए पकड़े जाने पर अपने दुष्कृत्य से दुःखी होता है।

बौद्ध साहित्य में त्रिपिटकों और जातकों का स्थान सबसे महत्वपूर्ण है। त्रिपिटकों में बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् उनकी शिक्षाओं को संकलित करके तीन भागों में विभक्त किया गया है विनयपिटक, सुत्तपिटक, अभिधम्मपिटक।

विनयपिटक में संघ सम्बन्धी नियम तथा आचार की शिक्षायें संग्रहित है। इसके अतिरिक्त "प्रशजिक" शीर्षक सबसे बड़ा पाप है इसके लिए दण्ड निर्धारित है जैसे भिक्षु संघ से निष्कासन।"

बौद्ध ग्रन्थ सुत्तनिपात में, "सब्वेसु भूतेषु निधाय" दण्ड, का उल्लेख मिलता है जिसका आशय डॉ. वी. के फजवोल ने लिया है' सब प्राणियों से अपने को निवृत्त करे। धम्मपद में एक स्थान पर निर्दिष्ट है कि जो मनुष्य दण्ड के अयोग्य और निर्दोष लोगों को दण्ड से पीड़ित करता है वह

ISSN-2230-7540

मनुष्य दस स्थितियों में से एक को शीघ्र प्राप्त करता है जैसे - तीव्र वेदना अंग-भंग इत्यादि। दीघ निकाय में यह विवेचित है कि जो मेरे कर्मचारी किसी अपराधी और चोर को पकड़कर मेरे पास लावें और कहे स्वामी यह आपका अपराधी है, इसे उचित दण्ड दें।

मज्झिम निकाय में एक स्थल पर यह उल्लेख प्राप्त होता है कि चोर एवं लुटेरे भिक्षुओं का अंग प्रत्यंग के टुकड़े-टुकड़े कर दें।संयुक्त निकाय के द्वितीय भाग में हिंसा, चोरी, सेंध लगाते, डकैती करने, घरों में लुटने पर-स्त्री से व्यभिचार करने वाले अपराधी को दण्ड प्राप्ति का उल्लेख मिलता है। अंगुत्तर निकाय में निर्दिष्ट है कि जो अपराध को अपराध समझता है अतः उस अपराध को अपराध समझकर उसका प्रतिकार करता है तथा उसे अपराध के विषय में कोई समझाता हो तो उसको यथार्यतः स्वीकार करता है, और यदि उसको नहीं स्वीकार करता है तो धर्मोयुक्त दण्ड दें। पालिग्रन्थ महावंश में यह उल्लेख मिलता है कि राजा एलार का पुत्र मार्ग में जाते समय उसके रथ का पहिया एक गाय के बछड़ा के गर्दन पर चढ़ाकर अनजाने में उसका सिर काट डाला। गाय के न्याय मागने पर राजा ने उसी रथ के पहिये से अपने पुत्र की ग्रीवा कटवा डाली।

अतः उपयुक्त तथ्यो एवं प्रमाणों से यह प्रतीध्वनि होता है कि बुद्ध कालीन समाज में दण्ड देने की प्रक्रिया अत्यन्त न्यायोचित थी। राजा का भी यह दायित्व था कि अपराधी उच्च वर्ग का या निम्न वर्ग का हो उसे अपराध के अनुरूप ही दण्ड दिया जाय अन्यथा उसका प्रभाव राजा के क्रिया-कलापों पर भी पड़ता था।

कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र मौर्यकालीन शासन व्यवस्था एवं संस्कृति पर विस्तृत प्रकाश डालता है। कौटिल्य ने *6* प्रकार के दण्डों का उल्लेख किया है यथा धिक्कार, अर्थदण्ड, बन्धन, अंग-भंग, निर्वासन, प्राणदण्ड। अर्थशास्त्र में यह विवेचित है कि मौर्य काल में राजा के आज्ञा का उल्लंघन करने वाले या आय-व्यय के नियमों के विपरीत चलने वाले कारणिक पर प्रथम साहस का दण्ड *250* पण लगाया जाए। इसी प्रकार उसी ग्रन्थ में अपहरण करने वाले पर आठ गुना तथा मिथ्या बोलने वाले पर चोरी का दण्ड लगाये जाने का प्रमाण उपलब्ध है। अन्यत्र यह वर्णित है कि रत्नों के उपभोग किये जाने पर प्राण दण्ड, सार का उपभोग करने पर मध्यम साहस का दण्ड एवं फल्गु और कृत्य का उपभोग किये जाने पर युक्त तथा उतना ही दण्ड लगाया जाए।

गुप्त कालीन साहित्य पुराण, स्मृति, कालीदास के मुख्य ग्रन्थों से उनकी शासन व्यवस्था उद्घाटित होता हैं। उसी ग्रन्थ में दण्ड देने की प्रक्रिया कठोर बतायी गयी है। उसी ग्रन्थ में उल्लेख है कि यदि दुराचारी स्त्रियाँ पर-पुरूष के साथ व्यभिचार करती है तो उसे असहनीय कष्ट सहना पड़ता था। अग्नि पुराण में गौ हत्या एवं छोटी छोटी चोरी के लिए पंचगव्य ग्रहण की व्यवस्था का वर्णन मिलता है। मत्स्य पुराण में द्विजाति से भिन्न जाति वाला व्यक्ति किसी द्विजाति का जिस अंग से अपकार करता है, उसके उसी अंग को शीघ्र काट देने का विधान निर्दिष्ट है। श्रीमद्भागवत पुराण में विवेचित है कि जो लोग सदैव अनेक पाप किया करते है, निरन्तर दुराचार में लिप्त रहते है, क्रोधाग्नि में जलते रहने वाले, कुटिल, कामपरायण वे सभी पापी सप्ताहयज्ञ से पवित्र हो जाते है।"

याज्ञवल्क्य स्मृति में व्यभिचार के लिए लिंग काट लिये जाने का प्रावधान है। पराशर स्मृति में तीन प्रायश्चित का विधान बताये गये है लिंग काट लेना, तीन कृष्छ, तीन चान्द्रायण व्रत। बृहस्पति स्मृति में सच्चरित्र एवं वेदाभ्यासी व्यक्ति ने यदि चोरी का अपराध किया है तो उसे बहुत समय तक जेल में बन्दी बनाकर रखने का संकेत मिलता है। कात्यायन स्मृति में यह निर्दिष्ट है कि स्त्रियों के लिए क्रमशः मृत्यु दण्ड और पुरूषों की अपेक्षा आधा अर्थदण्ड लगता है। पुरूषों और स्त्रियों को अंग विच्छेद (नाक, कान काट लेना) ही प्रायश्चित था।" अंगिरा स्मृति में धन चुराने वाले व्यक्ति की भर्त्सना किया गया है। नारद स्मृति में उल्लिखित है कि उत्तम साहस के अपराधी राजा द्वारा दण्डित होने पर भी व्यवस्थित प्रायश्चित न करने पर पापियों को दण्ड देने का अधिकार राजा को था। मनु स्मृति में सेंध लगाने एवं राजा द्वारा उसका हाथ कटवा देने एवं शूली पर चढ़ा देने का विवरण है।

कालीदास कृत अभिज्ञानशाकुन्तलम में भी दण्ड का वर्णन मिलता है। उसमें ऋषि को अकारण कष्ट देना या सताना एक अपराध माना जाता था और उस अपराधी को ऋषियों द्वारा शाप रूपी दण्ड जलाकर भस्म करना पापियों का नाश करना था। इसी प्रकार रघुवंश में स्त्री द्वारा उद्दण्ड व्यवहार करने पर नाक काटने का दण्ड विधान निर्दिष्ट है। मुद्राराक्षस में यह विवरण मिलता है कि राजा की मृत्यु करने वाले षड्यंत्रकारी को शूली पर चढ़ा देने का विधान है। मालविकाग्निमित्र में यह नियम उद्धृत है कि दासी द्वारा राजा से संभोग करने पर उसे काल कोठरी में डाल देने का उल्लेख है।

हर्ष के राज्य के विषय में जानकारी बाणभट्ट की रचना तथा चीनी यात्री वेनसांग के विवरण से प्राप्त होती है। इसके माध्यम से तत्कालीन लोगों के धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं न्यायिक जीवन का पता चलता है।

हर्ष के मृत्योपरान्त भारतीय इतिहास का राजपूत काल निरन्तर युद्धों का काल था। इस निमित्त प्रशासन चलाने के लिए राज्य में अनेक पदाधिकारी नियुक्त थे। ग्राम पंचायत द्वारा दीवानी एवं फौजदारी के मुकदमों के फैसले किये जाते थे। "पृथ्वीराज रासो" में यह उल्लेख है कि जयचन्द्र की कन्या संयोगिता का अपहरण किया गया था। प्रबंध चिंतामणि एवं दशकुमार चरित्र से पता चलता है कि राजा अपने मंत्रियों के अपराध करने पर नाक-कान काट लेते या अंधा बना देते थे।"

विदेशी लेखकों एवं यात्रियों के भारत सम्बन्धी विवरणों से प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति का ज्ञान प्राप्त होता है। बौद्ध धर्म से प्रभावित होकर वे समय-समय पर भारत आते रहे और यहाँ के जीवन शैली के विषय में लिखते रहे। इन विवरणों से तत्कालीन भारतीय समाज और संस्कृति पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। इनमें से तीन चीनी यात्री विशेष उल्लेखनीय है फाह्यान, वेनसांग तथा इंत्सिंग।

फामान चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के शासनकाल में *399* ई. में भारत आया था। वह पश्चिमोत्तर सीमा से भारत में प्रविष्ट हुआ था। फाद्यान चौदह वर्ष तक भारत में रहा और बौद्ध धर्म एवं ज्ञान का अर्जन किया था। फाद्यान के यात्रा विवरण में अपराधिक एवं दाण्डिक विधानों की भी चर्चा की गयी है।"

चीनी यात्रियों में महत्वपूर्ण ह्वेनसांग हर्षवर्धन के शासन काल में 629 ई. के लगभग भारत आया था। उसने *16* वर्षों तक यहाँ निवास कर विभिन्न राज्यों, तीर्थस्थलों एवं विद्या केन्द्रों में भ्रमण किया। उसने अपने यात्रा विवरण में तत्कालीन, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन का विशद् 1886 में किया। इसे आक्सफोर्ड ने श्रिकार्ड-आफ-दि-बुद्धिस्टिक-किंगडम्स" के नाम से 1886 में प्रकाशित किया। दूसरा अनुवाद एच*0*ए*0* गाइल्स ने "दि ट्रेवेल्स ऑफ फाह्यान एण्ड रिकार्ड आफ बुद्धिस्टिक किंगडम्स" नामक शीर्षक के अन्तर्गत किया जो कैम्ब्री से सन् 1923 ई. में प्रकाशित हुआ था। तीसरा ग्रन्थ 1957 में पेंकिंग से "कार्ड आफ बुद्धिस्टिक कन्ट्रीज" के नाम से प्रकाशित हुआ था।

वर्णन किया है। उन्होंने उल्लेख किया है कि हर्ष के काल में कुछ अपराधों के लिए नाक कान काट दिया जाता था और उन्हें राज्य से निष्कासित कर जंगलों में जीवन व्यतीत करना पड़ता था और कतिपय अपराधों के लिए जुर्माना दिया जाता था। तत्कालीन न्यायिक प्रक्रिया के अंतर्गत परीक्षा द्वारा अपराध की जाँच करने का तरीका भी प्रचलित था।

चीनी यात्री इत्सिंग का विवरण भारत चीन के सांस्कृतिक एवं राजनीतिक सम्बन्ध में ऐतिहासिक स्रोत के रूप में महत्वपूर्ण हैं द्य इंत्सिंग 671-672 में भारत की यात्रा की थी और उसने 12 वर्षों का यात्रा विवरण प्रस्तुत किया था। इंत्सिंग की रचना "काउ फा-काओ-सांग-चुन" नाम से प्रसिद्ध हैं, इत्सिंग के यात्रा वृतान्त का अंग्रेजी अनुवाद जे. तक्कुसु नामक जापानी विद्वान ने "ए रिकार्ड आफ दि बुद्धिस्टिक रिलीजन एज प्रैक्टिस्ड इन इण्डिया एण्ड दि मलय आर्कियोलोजी" नाम से किया है जो सन् 1896 ई. में आक्सफोर्ड से प्रकाशित हुआ है। इसके माध्यम से उन्होंने तत्कालीन न्यायिक व्यवस्था का विवेचन किया है।

मेगस्थनीज चन्द्रगुप्त मौर्य की राजसभा में यूनानी सम्राट सेल्यूकस का राजदूत था जिसने "इण्डिका" नामक ग्रन्थ लिखा था। डॉ. स्वानवेक ने एक स्थान पर संगृहित कर 1846 ई. प्रकाशित किया और 1891 ई. में मैक क्रिण्डल महोदय ने इस संग्रह को अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया। अतः निष्कर्ष रूप में यह मत अभिव्यक्त किया जा सकता है कि उपर्युक्त चीनी विद्वानों के विवरण से तत्कालीन समाज में प्रचलित अपराधों एवं दण्ड के विषय में ज्ञान प्राप्त होता है।

"वेनसांग का ग्रन्थ-चीनी भाषा मेंसि-यू-की" के नाम से प्रसिद्ध है जिसका अंग्रेजी अनुवाद एस. बील ने "ह्वेनसांग का यात्रा, विवरण" तथा रायल एशियाटिक सोसाइटी की ओर से थामस वाटर्स ने "आन-युवान-च्वांग-ट्रवेल्स इन इण्डिया" नाम से किया है। इनके शिष्य हैवेल ने "ह्वेनसांग तथा बुस्टिक रिकार्डस आफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड" के नाम से किया हैं।

स्मारक एवं मुद्रा से अपराध एवं दण्ड सम्बन्धी कोई महत्वपूर्ण जानकारी नहीं प्राप्त होती है। अभिलेखों से कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है जिसमें अशोक का ही एक मात्र अभिलेख है जो दण्ड की प्रक्रिया को उद्घाटित करती है। अशोक के शिलालेखों से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि उपद्रवियों

ISSN-2230-7540

को दण्डित किया जाता था। अशोक के "स्तम्भलेख" में अधिकारी अपराधियों को दण्ड दिया करते थे। मृत्यु प्राप्त अपराधी को जीवन शुल्क लेकर छोड़ने का विधान मिलता है। सामान्य अपराध का प्रायश्चित न करने पर मिथ्यावाद न छोड़ने पर संघ से निलम्बन का दण्ड दिया जाता था। अशोक के लघु शिलालेख में ब्राह्मण जो देवता माने जाते थे इसी के विपरीत हिंसक होने पर वे ब्राह्मणत्व हीन कर दिये जाते थे। इससे यह भी सूचित होता है कि पहली बार ब्राह्मण को दण्डित किया गया। साची लघु स्तम्भ लेख के अनुसार कुल, जाति, जनपद व संघ के नियमों की अवहेलना करने वालों को राजदण्ड दिया जाता था।

दण्ड की उत्पत्ति

दण्ड की उत्पत्ति राज्यसंस्था की उत्पत्ति के साथ हुई। मनुस्मृति (सप्तम अध्याय) और महाभारत (शांतिपर्व: *56.13-33)* में यह कहा गया है कि मानव जाति की प्रारंभिक स्थिति अत्यंत पवित्र स्वभाव, दोषरहित कर्म, सत्वप्रकृति और ऋतु की थी, जब न तो किसी राजा की स्थिति थी, न राज्य था, न दंड था, न दंडी था और सभी लोग धर्म के द्वारा ही एक दूसरे की रक्षा करते थे।

न राज्यं न च राजासीत न दण्डो न च दाण्डिकः।

स्वयमेव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम ॥

किंतु कालांतर में तामस्गुणों का प्राबल्य बढ़ने लगा, मनुष्य समाज अपनी आदिम सत्व प्रकृति से च्युत हो गया और मात्स्य न्याय छा गया। बलवान् कमजोरों को खाने लगे। ऐसी स्थिति में राज्य और राजा की उत्पत्ति हुई और सबको सही रास्तों पर रखने के लिये दंड का विधान हुआ। दंड राज्य शक्ति का प्रतीक हुआ जो सारी प्रजाओं का शासक, रक्षक तथा सभी के सोते हुए जागनेवाला था। अत: दंड को ही धर्म स्वीकार किया गया (मनुस्मृति 7.18)। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि धर्म का साधक केवल दंड ही माना गया। वह धर्म जिसमें अर्थ और काम भी समाहित है अर्थात् दंड त्रिवर्ग का साधक स्वीकृत हुआ। आदर्श से स्खलन को दूर करने के लिये दंड की आवश्यकता हुई।

राज्य की शक्ति के रूप में दंड न्यायिक क्षेत्र में प्रसारित होने लगा। उसका उद्देश्य था समाज और धर्म की मान्यताओं और यथास्थिति की रक्षा करना। वह यथास्थिति धर्म के नाम से अभिहित थी और धर्म के भी वर्ण, जाति, आश्रम, देश, काल, समूह, वर्ग, परिवार और व्यवसाय आदि भेदों पर आधारित और भिन्न भिन्न रूपों में मान्य अनेक प्रकार थे, जिनका ज्ञान धर्मासनस्थ दंडकर्त्ता के लिये अत्यावश्यक होता था। दंड का प्रयोग करनेवाला राजा भी यदि धर्म का उल्लंघन करे तो दंड का भागी होता था। धर्म अर्थात् विधि से परे कोई न था धर्म राजाओं का भी राजा था। राज्य का प्रधान राजा अथवा अन्य कोई शक्ति, यथा गणतंत्र का मुखिया न्यायिकय संगठन का प्रधान अवश्य था, किंतु विधि का प्रधान वह कभी नहीं हो सका और विधि के उल्लंघन करने पर दंड उसपर भी सवार हो जाता था। भारत में विधि और दंड की यह संप्रभुता ब्राह्मणकाल से लेकर मनुस्मृति और महाभारत के युग के बीच विकसित हुई दिखाई देती है।

दण्ड के सिद्धान्त

आधुनिक विधिशास्त्री दण्ड के चार सिद्धान्त मानते हैं --

प्रतीकारात्मक (Retributive)

निषेघात्मक (Deterrent)

अवरोधक (Preventive) और

सुधारात्मक (Reformative)

सभी देशों में समाज की अत्यंत प्रारंभिक अवस्था प्रतीकारात्मक दंड की थी, जिसमें आँख के बदले आँख और दाँत के बदले दाँत (फोड़ देने और उखाड़ देने) का सिद्धांत चलता था। वैदिक साहित्य की 'जीवगृभ' जैसी संज्ञाएँ इस बात की द्योतक हैं कि भारतीय इतिहास के अत्यंत प्रारंभिक

काल का न्याय कठोर और प्रतीकारात्मक ही था। इस सिद्धान्त की मान्यता है कि एक अपराधी को कठोर दण्ड देने से दूसरे लोग अपराध करने से डरते हैं।

निषेधात्मक सिद्धान्त की मान्यता है कि अपराधी को दण्ड देने से जिसके प्रति अपराध हुआ है उसे उसका "बदला" मिल जाता है। यह सभी सिद्धान्तों में सबसे बुरा सिद्धान्त है क्योंकि इसमें समाज का कल्याण या समाज की सुरक्षा की भावना नहीं है।

तीसरी अवस्था में दंड का स्वरूप प्रतीकारात्मक के बदले अवरोधक हो गया। इसका कारण था दोषी मनुष्य के प्रति दोष किए गए हुए मनुष्य का निपट लेने के बजाय दंड धारण करनेवाले राज्य का बीच में आ जाना। व्यक्तिगत बदले की भावना को समाप्त कर राजकीय दंड की महिमा को स्थापित करना राज्य का उद्देश्य और उसकी बढ़ती हुई शक्ति का द्योतक हो गया। दीवानी के मामलों में अर्थदंड आदि द्वारा दोष किए गए हुए व्यक्ति को कुछ बदला दिलाना यद्यपि वैध माना गया, फौजदारी के मामलों में बदला लेना अब असंभव था। किंतु कठोर - कभी कभी तो अत्यंत क्रूर और असभ्य दंडों का दिया जाना प्रायः नियम सा था। यदि हम उपनिषदों के दैवदंडों, बौद्धग्रंथों (हिस्ट्री ऑव कोशलकृवि पाठक, पृष्ठ *338-342)* में वर्णित दंडों, अर्थशास्त्र के द्वारा हाथ पाँव काट लिए जाने की अनुशंसाओं तथा मेगेस्थनीज द्वारा की जानेवाली उसकी संपुष्टियों को देखें अथवा पूर्व और पश्चिम दोनों ही ओर प्रचलित मध्यकालीन और कुछ हद तक आधुनिक काल के प्रारंभ तक के दंडों का विवेचन करें तो यह कहना होगा कि वे अत्यन्त ही क्रूर और आधुनिक दृष्टि से बर्बर थे। उनका उद्देशय था औरों में अपराध करने के प्रति भय उत्पन्न करना। इनमें अंग-भंग, जीवित जला दिया जाना, मृत्युदंड, आजीवन कारावास और असह्य यातनाओं से भरे हुए दंड होते हैं। निरोधक दंडों में अपराध के कारण अथवा उसके भविष्य के कर्ता को ही उससे रोक देने का उपाय किया जाता है, जो उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता छीनकर संपन्न होता है। भारतवर्ष का निरोधक जेल विधान (*Preventive Detention Act*) इसी श्रेणी में है।

चौथा और सर्वोत्तम दंड का प्रकार है सुधारात्मक। सभ्यता के विकास के क्रम में भी यद्यपि सभी देशों में संभावित दोषियों के प्रति दोषों के गंभीर परिणाम और दंडयातनाओं का भय उपस्थित करने के लिय कठोर अवरोधक दंड दिए जाते रहे हैं, पर कभी-कभी सुधारात्मक प्रवृत्तियाँ भी उठती रही हैं। प्राचीन रोम में दोषी की स्वतंत्रता का हरण (जेल में डाल देना) मात्र ही सबसे बड़ा दंड माना गया और उसके बाद कोई यातना आवश्यक नहीं समझी गई (*ad continendos non ad puriendos*)। भारतवर्ष में कौटिल्य ने काराग्रस्तों को प्रायश्चित्त कराने और अपने पापों का बोध कराने की व्यवस्था के द्वारा उन्हें विशुद्ध कराने का उल्लेख (द्वितीय, *36,589)* किया है। अशोक ने भी अपने चतुर्थ स्तंभलेख में व्यवहारसमता और दंडसमता के साथ शुद्धचरित्र, धर्मरत और सद्व्यवहारी दोषियों के दंडों को कम करने का आदेश दिया है। ये बातें दंड विधान की सुधारात्मक प्रवृत्ति की द्योतक हैं। स्मृतियों में धिग्दंड अथवा वाग्दंड की चर्चाएँ आती हैं, जो सर्वदा कायदंड और वधदंड से पहले आता था। उसका तात्पर्य यह था कि सामाजिक निंदा मात्र से यदि काम चल जाय तो कठोर यातनाओं की आवश्यकताएँ ही क्या ? एक नियम तो सर्वमान्य था और वह यह कि दंड 'यथार्हे' हो और वह आप्तदोष होने पर ही दिया जाना चाहिए।

*20*वीं शती में दंडविधान को सुधारात्मक स्वरूप देने के प्रयत्न हो रहे हैं। *1872* ई में लन्दन में एक अंतरराष्ट्रीय जेल सुधार और दंडविधान के किसी अंतरराष्ट्रीय स्वरूप को निश्चित करने के लिये सभा हुई। बाद में तत्संबंधी सामूहिक संघटन भी स्थापित हुए पर उसके सदस्य अधिकांशत: यूरोपीय देश ही रहे। धीरे धीरे कठोर दंडों के स्थान पर काराग्रस्त दोषी के नैतिक जीवन का पुनरुज्जीवन लक्ष्य माना जाने लगा। उसमें भय की अपेक्षा आशा अधिक रखी जाने लगी है। दंड के सुधारात्मक सिद्धांत में उसका विधान दोषी की अवस्था, सामाजिक वातावरण और स्थितिविशेष के आधार पर किया जाता है। दोषों के लिये समाज और वातावरण को भी उत्तरदायी माना जाता है। अत: दोषी को सुधारने के लिये मनोवैज्ञानिक उपायों का प्रयोग, उसका वैयक्तिक स्तर पर विचार, दोषी बालकों के लिय सुधारभवनों की व्यवस्था, औद्योगिक शिक्षा, साधारण शिक्षा, नैतिक और धार्मिक व्याख्यान और अन्य सुनियोजित व्यवस्थाएँ की जाती हैं। भारतवर्ष में भी कुछ अन्य देशों की तरह काराग्रस्तों को बाँधनेवाले बाँधों, सड़कों अथवा अन्य निर्माणों में नौकरी और मजदूरी कराने अथवा औद्योगिक शिक्षाओं के द्वारा समाजोपयोगी और परिवारसेवी बनाने के प्रयत्न प्रारंभ हैं। असंभव नहीं कि कुछ सदियों में व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अपहरण मात्र सबसे बड़ा दंड माना जाय और मानव स्वभाव इतना उदात्त और पवित्र हो जाये कि प्राणाहरण और आजीवन कठोर कारावास जैसे दंडों की आवश्यकता ही न रहे।

ISSN-2230-7540

उपसंहार

प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत समाज के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालने का प्रयास प्रासंगिक है तथापि मात्र दण्ड व्यवस्था का अध्ययन करना मूलतः तत्कालीन न्यायिक व्यवस्था में समाहित है। ऐसी मान्यता है कि साहित्य एवं व्यवस्थाये समाज की दर्पण होती है। इस परिप्रेक्ष्य में यह भाव व्यक्त करना अप्रासंगिक न होगा कि प्राचीन भारतीय इतिहास के प्रत्येक काल एवं इतिहास में सामाजिक संरचना व्यवस्था तथा जन-जीवन की सुरक्षा एवं हित की दृष्टि से व्यक्ति के व्यवहार को सामाजिक नियंत्रण में लाने में दण्ड प्रक्रिया का महत्वपूर्ण स्थान रहा है।

मूलतः तत्कालीन सामाजिक जीवन में दण्ड व्यवस्था के अध्ययन के सन्दर्भ में देश काल एवं परिस्थितियों का प्रभाव निःसंदेह पड़ा है। दाण्डिक व्यवस्था का विशेषणात्मक अध्ययन करने से यह तथ्य प्रकाशित होता है कि जब से सामाजिक व्यवस्था का विकास हुआ। समाज में कोई न कोई दण्ड सम्बन्धी विधि निःसंदेह विद्यमान रही है। इसी दृष्टिकोण से प्राचीन मनिषियों एवं सामाजिक विचारों को तत्व सम्बन्धी दण्डात्मक व्यवस्था का प्रावधान निर्दिष्ट किया है, प्रस्तुत विषय पर शोध करने का मेरा परम लक्ष्य यही रहा है कि प्राचीन भारतीय सामाजिक दृष्टिकोण से दण्ड व्यवस्था से सन्दर्भित समस्त तत्वों को प्रर्याप्त रहस्यमय गुण एवं अप्रकासित पहलूओं को ज्ञान के क्षेत्र में प्रकाशित किया जाय। इस प्रकार प्रस्तुत शोध के माध्यम से प्राचीन भारतीय इतिहास के परिप्रेक्ष्य में समाजशास्त्री दृष्टिकोण से इसके महत्वपूर्ण योगदान का प्रस्तुतीकरण किया जा सके।

सन्दर्भ सूची

1. न्यायिक प्रक्रिया की प्रकृति (1921) कॉर्डोजो, पीपी। 133-11 जो रोसको पाउंड द्वारा न्यायशास्त्र (*1949)* वॉल्यूम में उद्धृत. *3.*च. 470.
2. 88 वी.जी. राव बनाम स्टेट ऑफ मद्रास, एआईआर 1952 मैड. 297
3. मध्यकालीन भारत में न्याय का प्रशासन, एम.बी. अमहद, पृ. 272, ब्रिग्स के हवाले से। भारत में मुहम्मडन पॉवर का उदय, खंड प्, पृष्ठ.272
4. अधिकारियों के कर्तव्यों का मैनुअल, एक फारसी एमएसएस. सर जदुनाथ सिरकार द्वारा उद्धृत, पी। 27
5. अधिकारियों के कर्तव्यों का मैनुअल, एक फारसी एमएसएस. सर जदुनाथ सिरकार द्वारा उद्धृत, पी. 115.
6. भारतीय कानूनी प्रणाली आज एक ऐसी ही कमजोरी से ग्रस्त है जिसके लिए सैद्धांतिक नींव भारत के बाहर हैं।
7. प्राचीन भारत का राजनीतिक सिद्धांत*:* जॉन डब्ल्यू. स्पेलमैन, क्लेरेंडन प्रेस, ऑक्सफोर्ड, पी .128।
7. बडोनी*:* मुन्तखब-उत-तवारिख, जो कि मध्यकालीन भारत में न्याय प्रशासन में एम.बी.अहमद द्वारा उद्धृत, पी. 278
8. जोइस, एम. राम., भारत का कानूनी और संवैधानिक इतिहास, टवस., पीपी. 575-76
9. (अल्फ्रेड रसेल वालेस को ड्यूरेंट द्वारा उद्धृत करते हुए, विल*:* द स्टोरी ऑफ सिविलाइजेशन (भाग-*I*) हमारी प्राच्य विरासत, पृष्ठ 27*)*
10. इसमें 61 पुस्तकों का समावेश था जो बादशाह औरंगजेब के अधिकार में अरबी में रचित थे और बाद में फारसी में अनुवादित हुए
11. यह अबू बक्र के पुत्र शेख बुरहान-उद-दीन अली द्वारा रचित बिदयुल-उल-मोहरदेवी पर एक टिप्पणी है।
12. इबिड। (कीथ, ए, बेरीडेल को उद्धृत करते हुए*:* द कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया में ऋग्वेद का युग", जे। राफसन, खंड-*I*, पृष्ठ 87 द्वारा संपादित)

ISSN-2230-7540

Corresponding Author

Dr. Shriphal Meena*

Lecturer, Department of History, Govt. College Karauli, Rajasthan

GNITED MINDS Journals